आखर हिंदी पत्रिका; e-ISSN-2583-0597 खंड 5/अंक 3/अगस्त 2025

Received: 14/08/2025; Accepted: 21/08/2025; Published: 28/08/2025

इक्कीसवीं सदी के सांस्कृतिक परिदृश्य और व्यंग्य कविता

डॉ. रेश्मा एम एल

सहायक आचार्य

क्राइस्ट यूनिवर्सिटी बैंगलोर

ईमेल आइडी : reshma.ml@christuniversity.in

दूर भाष: ७२९३२४५१९०

डॉ .रेश्मा एम एल,इक्कीसवीं सदी के सांस्कृतिक परिदृश्य और व्यंग्य कविता आखर हिंदी पत्रिका, **खंड 5/अंक 3/अगस्त 2025**,(175 -178) https://doi.org/10.5281/zenodo.17072556

This work is licensed under CC BY-NC 4.0

मूल्य मनुष्य को मनुष्य बनानेवाला तत्व हैं। ये मूल्य हमारी संस्कृति के प्राण है। आजकल हम संस्कृति के विरुपीकरण के युग में जी रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य मनुष्यता भूलकर यांत्रिक मनुष्य बनते जा रहे हैं। साहित्य और संस्कृति परस्पर पूरक हैं। शिवकुमार मिश्र के अनुसार "साहित्य और संस्कृति संबंधी कोई भी विचार सामाजिक जीवन में समस्त मनुष्य के कार्यकलाप से कटकर नहीं किया जा सकता। संस्कृति मनुष्य की ही होती है। साहित्य का निर्माता भी मनुष्य ही है जो समाज में रहता और श्रम करता है। मनुष्य की आदि अवस्था से लेकर आज तक का साहित्य कला एवं सभ्यता तथा संस्कृति का सारा विकास मनुष्य और समाज के विकास का ही परिणाम है।"[1] मानव के आदर्श उसके सांस्कृतिक दृष्टिकोण पर आधारित हैं। मनुष्य के व्यवहार के संचालक और नियामक संस्कृति ही है। भूमंडलीकरण की नीतियों ने संपूर्ण विश्व के साथ-साथ मनुष्य की संस्कृति को भी कैद कर लिया है। हमारी संस्कृति उन बहुराष्ट्रीय निगमों की साज़िश के विरुद्ध एक सशक्त औजार है। इस औजार के तेज़ को कम करना बहुराष्ट्रीय कंपनियों के एजंडा हैं। इस दिशा में कार्य करके इन कंपनियों ने हमारी बहुमूल्य संस्कृति को बाज़ारू संस्कृति बना दिया है। 'संस्कृति के उत्तर कथा' में शंभुनाथ ने लिखा है-" समूह संस्कृति एक व्यावसायिक और संकीर्ण संस्कृति है। उसे कभी-भी जनसंस्कृति या जनता की राष्ट्रीय संस्कृति नहीं कहा जा सकता है। दरअसल झुंड

संस्कृति संस्कृति हीनता की संस्कृति है।"[2] औद्योगिक सभ्यता ने उपभोग संस्कृति को जन्म दिया है। उपभोग के पहले कुछ आदर्श थे, लेकिन आज आदशों का कोई जगह नहीं है। उपभोक्तावादी संस्कृति के चंगुल में फँसकर लोग बाज़ार तंत्र का गुलाम बनकर यांत्रिक जीवन बिता रहे हैं। विज्ञापन और ब्रांड के पीछे भागकर व्यक्ति अपनी संस्कृति से दूर होता जा रहा है। आधुनिक सभ्यता के प्रति बेवजह आग्रह और हमारी संस्कृति के प्रति बेवजह घृणा करना एक फैशन बन चुका है। इसलिए मनुष्य के बीच आजकल किसी न किसी आत्मीय संबंध का कोई स्थान नहीं है।

सही अर्थ में इक्कीसवीं सदी की व्यंग्य कविता स्थानीय संस्कृति की पुनस्थापना के लिए संघर्ष कर रही है। सांस्कृतिक संकट के कारक तत्वों से अवगत कराने के साथ-साथ उन चुनौतियों के विरुद्ध प्रतिरोध का सशक्त स्वर भी व्यंग्य कविता में देख सकते हैं। स्थानीय संस्कृति के प्रति आस्था भी इन कवियों ने व्यक्त की है। अज्ञेय ने संस्कृति के महत्व को इस प्रकार समझाया - "सारे समाज का पुंजित अनुभव रचना में लगने पर उससे जो आनंदमयी सृष्टि होती है, वही संस्कृति है। अगर वह सृष्टि नहीं है तो संस्कृति नहीं है, अगर आनंदमयी नहीं है तो भी वह संस्कृति नहीं है। और अगर उसका आधार पूरे समाज का अनुभव समाजव्यापी सत्य नहीं है तो भी वह सस्कृति नहीं है।"[3] भारत की संस्कृति सामाजिक संस्कृति है, क्योंकि भारत बहुसांस्कृतिक बहुजातीय, बहुधार्मिक राष्ट्र है। इसलिए भारतीय संस्कृति के मूल में समन्वय भावना है। अध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति का आधार है।हमारी संस्कृति में कर्म, त्याग आदि का विशेष स्थान है, लेकिन पाश्चात्य संस्कृति भौतिक जगत और ज्ञान के बलबूते पर खड़ी है। दोनों बिल्कुल अलग है। इसलिए भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति का हस्तक्षेप, उथल-पुथल और विसंगतियाँ अवश्य उत्पन्न करेंगी। संस्कृतियों के आपस में विस्तार सही है, लेकिन संस्कृति के मूल को चकनाचूर करनेवाले विस्तार पर चर्चा करना बेहद ज़रूरी है। इस ज़रूरत को समझकर पाश्चात्य संस्कृति के पीछे दौड़ रहे मनुष्यों को स्थानीय संस्कृति तक वापस लौटाने के लिए इक्कीसवीं सदी के व्यंग्यकार प्रयत्नशील हैं।भौतिक सुख सुविधाओं के लिए लोग गाँव, छोड़कर शहर की तरफ जाने लगते हैं। शहरीकरण राष्ट्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। फिर भी शहरीकरण के कारण अनेक समस्याएँ भी उत्पन्न होती हैं। इन समस्याओं को निपटाने के लिए सरकार ने कई योजनाएँ बनाई हैं। प्रधानमंत्री आवास योजना, अमृत योजना, जवाहरलाल नेहरु राष्ट्रीय शहरी नवीकरण मिशन आदि-आदि। इन सबके होने के बावजूद भी शहरीकरण के बुरे परिणामों से हम नहीं बचते हैं। निरूपमा दत्त की 'सीख लिया हैं' कविता शहरीकरण के परिणामों पर प्रकाश डालती है।

"सीख लिया है एक शहर से दूसरे के घावों में छुपाना/ शहर बदलते ही थोड़ा सा खुद भी बदल जाना, एक शहर में खुलकर हँसना दूसरे में बस/ धीरे - धीरे मुस्कुराना, पाँच घंटों में शिवकुमार की लेक से/

भीमसेन जोशी के सुरों तक का सफर तय कर जाना/ बस एक गुम हुए गाँव को भूल जाने की खातिर सीख लिया है दर - शहर भटकते रहना।"[4]

शहरीकरण से उपजते सांस्कृतिक संकट इक्कीसवीं सदी के व्यंग्य कविता की चर्चा का विषय है। इसमें व्यंग्य के ज़रिए शहरीकरण के विभिन्न पहलुओं पर नज़र रखते हुए समस्याओं के प्रति संपूर्ण दृष्टिकोण को अपनाया गया है। अतिशहरीकरण के कारण उत्पन्न सुरक्षा का अभाव, पारिवारिक विघटन, आवास और गंदी बस्तियों की समस्या आर्थिक असमानता आदि पर व्यंग्यकारों ने अपनी चिंता प्रकट की है।

भूमंडलीकरण ने बहुआयामी संस्कृति को खतम करके उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया है। उपभोग संस्कृति के केंद्र में उपभोग और सुख है। इसमें आपत्ति यह है कि उपभोग संस्कृति के चंगुल में फँसकर मनुष्य सुख और उपभोग को जीवन के परम लक्ष्य मानते हैं। यहाँ आदर्श, नैतिकता का कोई स्थान नहीं है। यांत्रिकता से युक्त मनुष्य यहाँ सिर्फ उपभोक्ता मात्र रह जाते हैं। साहित्य अकादमी पुरस्कार ग्रहण के अवसर में वीरेन डंगवाल ने भूमंडलीकरण और उपभोक्तावाद के चरित्र को स्पष्ट करते हुए उसे संस्कृति और कविता का शत्रु घोषित किया -" वैश्वीकरण भाषाओं, संस्कृतियों और कविता का शत्रु है। उसका स्वप्न एक ऐसी मनुष्यता है जो उसी के गाँव में बसती है, उसी तरह रहती सोचती-पहनती हाव भाव रचती और खाती-पीती है। एक रासायनिक संस्कृति बोध से लैस इस वैश्विक मनुष्यता का आदर्श भी अन्तर्राष्ट्रीयवाद है, मगर अपने मूल मानवीय अर्थ के बिल्कुल उल्टे अर्थ में। यह वैश्विक मनुष्य तो पारंपरिक संस्कृतियों और ज्ञान को नष्ट करनेवाला और अधिनायकवादी है, जो बाज़ार और उपभोग को मान्यता देता है। यह वस्तुतः पूंजी के प्रचंड विचार का वाहक और यथास्थिति का घनघोर पोषक है। जीवन की अनुकृति बननेवाली कविता उसे रास नहीं आती।"[5] इक्कीसवीं सदी की व्यंग्य कविता के अंतर्गत उपभोग संस्कृति के बहुआयामी पक्षों को व्यक्त करते हुए उससे मुठभेड़ करके, झुंड संस्कृति के स्थान पर स्थानीय संस्कृति की स्थापना करने की कोशिश की गयी है। 'इंस्पेक्टर मातादीन का सपना' नामक कविता में उमाशंकर चौधरी ने उपभोक्तावादी युग के मनुष्य की जिंदगी के साथ यात्रा की है। मनुष्य ने आज पेजर की मध्यस्थता वाली दुनिया से निकलकर, मोबाइल की लाइव दुनिया में प्रवेश किया है और लैपटॉप को अपना जीवनसाथी बना लिया है। मॉल संस्कृति के संसार में जी रहे लोगों के बारे में कवि ने कहा कि-

"जहाँ मॉल-संस्कृति की अपनी एक पूरी दुनिया है/ तब यह डर, इस उन्नति के रास्ते की इसलिए/उसकी मदद के लिए आगे आने में आप कतराएँगे/सबसे सनसनीखेज और बिल्कुल नयी परिघटना है/ जिसे प्राप्त करने में इस स्वाधीन देश को करीब/अट्ठावन वर्ष लग गए, सम्भव है कि वाकई किसी ने

उसका/ पॉकेट मार लिया हो, और सही में वह ज़रूरतमन्द हो, लेकिन/ चूँकि आप एक डरे-सहमे हुए नागरिक हैं।"[6]

उपभोग संस्कृति के चंगुल में पड़कर मनुष्य अपनी जीवन शैली और परंपरागत मूल्यों को भूल चुके हैं। इक्कीसवीं सदी के व्यंग्यकारों ने उपभोक्तावाद-बाज़ारवाद आदि साम्राज्यवादी ताकतें अब लोगों को भौतिक और आंतरिक रूप से गुलाम बनाकर संस्कृति को अस्त-व्यस्त करने को लेकर अपनी प्रहारात्मक प्रतिक्रिया जाहिर की है। सुधीश पचौरी के शब्दों में कहे तो "भूमंडलीयता में संस्कृति एक उद्योग है,उत्पाद है, पण्य है ब्रांड है।"[7] इसलिए इक्कीसवीं सदी के व्यंग्यकार संस्कृति के क्षेत्र में दखल करनेवाली शक्तियों को हराने के लिए विकल्प की तलाश करते रहते हैं।

औद्योगिक सभ्यता और उपभोगवाद के बीच गहन संबन्ध है। यह मानव संस्कृति के लिए खतरा भी है। उपभोक्ता अपनी संस्कृति को व्यापकता के साथ आत्मसात करे तो उन ताकतों की साजिश असफल हो जाएगी, इसलिए बहुराष्ट्रीय कंपनियों की पहली अजंडा यह है कि जनता को अपनी संस्कृति से पृथक करना। इसके लिए उन्होंने अनेक नीतियों को अपनाया है। इन नीतियों के चक्रव्यूह में जनता आसानी से फँसकर, खुद की संस्कृति से अलग होने लगी है। मनुष्य अपनी बहुमूल्य संस्कृति को भूलकर उपभोग और ब्रांड संस्कृति को अपनाकर आधुनिक बनने की होड़ में लगे हैं। इसके कारण वे अपसंस्कृति के वाहक बनकर अपनी मूल प्रकृति के लुटेरे बन गए। बाज़ारवादी नीतियों के पीछे छिपी प्रस्तुत साजिश इक्कीसवीं सदी के व्यंग्यकारों को परेशान कर रही है। इस सांस्कृतिक संकट को पहचानकर व्यंग्यकारों ने अपसंस्कृति के खिलाफ अपनी सृजनात्मकता के माध्यम से आक्रोश व्यक्त किया है। झुंड संस्कृति के इस दौर में व्यंग्य कविता उसके पर्दों को खोलकर यथार्थ की खोज कर रहीं हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

१ शिवकुमार मिश्र -दर्शन साहित्य और समाज – 1992 पृ.19

२ शंभूनाथ-संस्कृति को उत्तर कथा - पृ. 177

३ अज्ञेय- आत्मनेयपद -पृ-172

४ अज्ञेय –देहांत से हटकर -पृ- 57

५ सं – रेखा मुले -समकालीन हिन्दी कविताएं – पृ- 73

६ पंकज विष्ट -समयान्तर पत्रिका– अप्रैल 2005 –पृ- 25

७ सुधीश पचौरी -नवसाम्राज्यवाद और संस्कृति – पृ-65

****